International Journal of Humanities and Social Science Research
www.socialsciencejournal.in
ISSN: 2455-2070
Received: 08-03-2023, Accepted: 07-04-2023, Published: 22-04-2023
Volume 9, Issue 2, 2023, Page No. 96-98

वैश्वीकरण एवं पर्यावरण की समस्याएंः एक अध्ययन

डॉ. बलभद्र प्रसाद देवांगन[1], डॉ. पुष्पा देवांगन[2]
[1] प्राचार्य एवं विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, अशोका महाविद्यालय, उम्मेदपुर, सारंगढ़, छत्तीसगढ़, भारत
[2] प्राचार्य एवं विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, के. पी. महाविद्यालय, बंधापाली सारंगढ़, छत्तीसगढ़, भारत

सारांश
वैश्वीकरण ने पूरे विश्व को विकास के पथ पर अग्रसर किया है। विकास चाहे तकनीकी हो या फिर आर्थिक इसका बड़ा खामियाजा पर्यावरण को भुगतना पड़ा है। विकास का स्वरूप भौतिकवादी है, अब यह सच सभी के सामने आने लगा है और प्रकृति से जुड़े मुद्दों पर चर्चाएं शुरू हो गई हैं। यही कारण है कि वैश्वीकरण विकास में पर्यावरण संरक्षण की आवाजें भी उठने लगी हैं परंतु इस हो–हल्ले के बीच पर्यावरण से सबसे करीब से जुड़े वनवासी व्यक्तियों के मुद्दों पर उतनी चर्चा नहीं हो पा रही है। वैश्वीकरण और पर्यावरण की समस्याओं के बीच मानवाधिकारों को सामने लाने का उद्देश्य यही है कि देश के लोगों को प्राप्त अधिकारों की व्यापक चर्चा हो सके।

मूल शब्दः वैश्वीकरण, पर्यावरण, मानवाधिकार, पोषित विकास, वनवासी व्यक्ति

वैश्वीकरण ने पूरे विश्व को विकास के पथ पर अग्रसर किया है। विकास चाहे तकनीकी हो या फिर आर्थिक इसका बड़ा खामियाजा पर्यावरण को भुगतना पड़ा है। विकास का स्वरूप भौतिकवादी है, अब यह सच सभी के सामने आने लगा है और प्रकृति से जुड़े मुद्दों पर चर्चाएं शुरू हो गई हैं। यही कारण है कि वैश्वीकरण विकास में पर्यावरण संरक्षण की आवाजें भी उठने लगी हैं परंतु इस हो–हल्ले के बीच पर्यावरण से सबसे करीब से जुड़े वनवासी व्यक्तियों के मुद्दों पर उतनी चर्चा नहीं हो पा रही है। वैश्वीकरण और पर्यावरण की समस्याओं के बीच मानवाधिकारों को सामने लाने का उद्देश्य यही है कि देश के लोगों को प्राप्त अधिकारों की व्यापक चर्चा हो सके। व्यक्ति हमेशा ही विकास से संबंधित बहस का केन्द्र बिन्दु रहे हैं। यहां प्रमुख विवाद का विषय यह है कि क्या हम प्रचलित विकास की परिभाषा को स्वीकार करें जो कि बाजारवाद पर आधारित है, अथवा वर्तमान में स्वीकार्य समेकित विकास की परिभाषा जो कि जनसंघर्ष एवं मानवाधिकार आंदोलनों से उत्पन्न हुई है। क्या विकास का अर्थ पूंजीपतियों व बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को लाभ दिलाना है? अधिकतम लोगों के अधिकारों का अधिकतम संरक्षण एवं खुशहाली है? यदि इस विवादित बिंदु पर जनमत संग्रह कराया जाये तो बहुमत अवश्य ही दूसरे बिन्दु के पक्ष में होगा। क्या वर्ग आधारित पूंजीपतिगत विकास राष्ट्रनिर्माण व राष्ट्रविकास की अवधारणा हो सकती है? सर्वथा नहीं। इस हेतु हमें सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय की अवधारणा को अंगीकार करना होगा जिसमें कि देशज व वनवासी आदिवासी लोगों को उनके प्रकृतिक वातावरण व परिवेश से पृथक किये बिना प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की नीति अपनानी होगी, तभी समेकित विकास की अवधारणा फलित होगी।

वैश्वीकरण पोषित विकास से संघर्ष

भारत की कुल जनसंख्या का 8.6 प्रतिशत वनवासी व्यक्ति है जो कि संख्या के अनुसार 8,43,26,240 लोग भारत की कुल आबादी क्षेत्र में प्रतिनिधित्व करते हैं। ये लोग सम्पूर्ण भारत में प्रमुखत वनाच्छादित क्षेत्रों व पहाड़ो पर फैले हुए हैं। वनवासी व्यक्तियों की कुल जनसंख्या का 83.2 प्रतिशत भाग भारत के मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, ओड़िशा, गुजरात, राजस्थान, झारखंड, छत्तीसगढ़, आन्ध्रप्रदेश, पश्चिमी बंगाल, कनार्टक राज्यों में स्थित है, अन्य 15. 3 प्रतिशत असम, मेघालय, नागालैंड, जम्मू–कश्मीर, त्रिपुरा, मिजोरम, बिहार, मणीपुर, अरूणाचल प्रदेश व तमिलनाडु में है। इन जनसंख्याओ की प्रमुख विशेषताओं में आदिम लक्षण, भौगोलिक एकाकीपन, विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान, संकोची स्वभाव तथा पिछड़ापन है परंतु विडम्बना यह है कि एक बड़े भूभाग पर बसे इन व्यक्ति लोगों को भूमण्डलीकरण पोषित विकास से संघर्ष करना पड़ रहा है तथा वे आंदोलन को विवश हो रहे हैं। विकास के नाम पर उनको परंपरागत अधिकारों यथा जल, जंगल व जमीन से पृथक किया जा रहा है। इनके अतिरिक्त उनके अनेक मूलभूत अधिकारो व मानवाधिकारों का हनन किया जा रहा है। प्रायरू देखने में आया है कि विकास प्रयोज्य योजनाओं ने समाज के इन महत्वहीन वर्गो जिनमें कि वनवासी प्रमुख हैं पर प्रत्यक्ष रूप से विपरित प्रभाव डाला है। वे अपने प्राकृतिक परिवेश व वातावरण से अलग होने को विवश हो रहे हैं। उनको प्राकृतिक परिवेश के विनाश व विस्थापन का दंश झेलना पड़ रहा है अथवा वे इस बारे में आशंकित हैं। सबसे बड़ा भय इस वर्ग को अपनी माँ सदृश्य भूमि, वनों से दूर करने का है जो कि उनके जीविकोपार्जन व संसाधनों का स्त्रोत हैं से संबंध समाप्त होने का है। यह आवश्यक रूप से आदिवासियों को साधनहीन, शक्तिहीन करने की दिशा है। यही कारण है कि देश के आदिवासी बहुत क्षेत्रों में अलगाववाद, नक्सलवाद, धर्मपरिवर्तन की घटनायें व्यापक रूप से घटित हो रही है।

विकासाधारित व्यक्तियों की समस्याएं

उपरोक्त पृष्ठभूमि में आदिवासी व देशज लोगों की प्रमुख समस्याओं का विश्लेषण किया जाये तो उनको विकास के कारण अनेक प्रकृति प्रदत्त अधिकारों व मानवाधिकारों से वंचित होना पड़ रहा है। केन्द्र व राज्य सरकारें नई आर्थिक नीति के अन्तर्गत देशी व विदेशी पूंजीगत निवेश को विकास परियोजनाओं में आमंत्रित कर रही है। प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए सुरक्षित वन क्षेत्रों को भी अलग नहीं रखा जा रहा है। विकास हेतु खनिज दोहन, स्टील प्लांट, पॉवर प्लांट, रिफाइनरी लगाकर प्राकृतिक संसाधनों को उपयोग में लाने की परियोजनाऐं शुरू की जा चुकी है अथवा प्रस्तावित है। वनों में विचरण करने व वनों का प्रबंधन करने वाले व्यक्तियों को जिनको वनों के दोहन व संरक्षण का परम्परागत ज्ञान हैं, वनों से पलायन करने के लिए विवश किया जा रहा है। वनों पर आधारित व्यक्तियों की अर्थव्यवस्था चरमरा गई है क्योंकि उनके वर संपदा के ऊपर निर्भर परम्परागत ईंधन, सूक्ष्म वन उत्पादों को इकट्ठा करने के अधिकारों को भी भारतीय वन नीति के अन्तर्गत प्रतिबंधित कर

दिया गया है। ये अधिकार व्यक्तियों को अब विधिक अधिकार के रूप में नहीं रहे है। इन अधिकारों को सरकारी, आदेशों, नियमों व प्रतिबंधों के अधीन कर दिया गया है। वनवासी व्यक्तियों पर लगाए गए प्रतिबंधों के चलते, वास्तविक रूप से वे अपने प्राकृतिक अधिकारों से वंचित हो गये हैं तथा उनके प्राकृतिक क्रिया कलाप जो कि वन आधारित अर्थव्यवस्था से सम्पन्न होते है, वन विभाग व अधिकारियों की दया पर निर्भर होने लगे हैं। गरीबी व अशिक्षा उनकी दशा को और दयनीय बनाने में प्रेरक हो रही है। वनवासी बहुसंख्यक मध्यप्रदेश राज्य में तो वन उत्पादों तथा तेन्दू पत्ता, लकड़ी (ईंधन), गोंद, हरड़, बांस, साल बीज, खैर छाल के विक्रय करने वाले ये व्यक्तियों अब मात्र श्रृमिक बन कर रह गये हैं। उन राज्यों में जहां अल्पवन उत्पाद का व्यापार राष्ट्रीकृत नहीं है वहां इन वनवासी व्यक्तियों का शोषण व्यापारियों व मध्यस्थों द्वारा होता है। इस प्रकार इन वनवासियों को अपनी ही भूमि पर, जिसका कि संरक्षण, संवर्धन उनके पूर्वजों ने किया था, एक शरणार्थी का जीवन जीने के लिये बाध्य किया जा चुका है। भूमंडलीकरण के इस युग में केन्द्र व राज्य सरकारों की नई आर्थिक नीति ने जो देशी विदेशी पूंजीगत निवेश को विकास परियोजनाओं हेतु आमंत्रित करती है व पोषित करती है, इन देशज वनवासियों के जीवन व अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। ये लोग निम्न सामान्य समस्याओं से जूझ रहे हैं–

1. सम्पत्ति से असंबन्ध होने का संघर्ष,
2. वन संसाधनों व वन प्रबंधन से अलगाव,
3. जीवन यापन समस्या व परम्परागत धन्धों की समाप्ति,
4. प्राकृतिक परिवेश, परिस्थितिकि, वातावरण की समाप्ति व भय
5. विस्थापन, संस्कृति का विलोपन,
6. विकास का लिंग सम्बन्धों पर प्रभाव,
7. एकाकी जीवन से समेकित जीवन में विचरण,
8. सामाजिक संबंध रूपान्तरण।

विधि के दृष्टिकोण से वनवासी व्यक्तियों को प्राप्त अधिकार

विधिशास्त्री दृष्टिकोण से यह सर्वमान्य है कि भारतीय संविधान व अन्य विधियों में वनवासी व्यक्तियों व वन क्षेत्रों में जल, खनन, भूमिगत संसाधनों व स्वामित्व का अधिकार राज्य को दिया गया है। यह उचित भी है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि देशज व वनवासी व्यक्तियों के अधिकारों का खनिज उत्खनन व दोहन प्रक्रिया में कोई सम्मान न किया जाये और राज्य अपनी स्वेच्छा से इन प्रक्रिया को संचालित करें। जबकि इसके विपरित मानवाधिकार विधि शास्त्र व भारतीय विधि शास्त्र के सिद्धांत वनवासी व्यक्तियों के अधिकारों का इस प्रक्रिया से व्यापक संबंध निर्धारित करते हैं। उनके अधिकारों को अनदेखा कर प्रक्रिया को पूर्ण नहीं किया जा सकता, जिनमें कि प्रमुख अधिकारों में निम्न अधिकार प्रमुख है–

1. सुरक्षित एवं स्वस्थ वातावरण का अधिकार,
2. पूर्व परामर्शमंत्रणा का अधिकार,
3. पूर्व सूचित सहमति का अधिकार,
4. विकास परियोजनाओं से लाभान्वित होने का अधिकार,
5. न्याय एवं क्षतिपूर्ति का अधिकार,
6. उचित पुनर्वास का अधिकार,
7. प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग का अधिकार
8. परम्परागत रीति रिवाज व संस्कृति संरक्षण का अधिकार
9. पारिस्थितिकी अखंडता का अधिकार
10. मानवीय प्रतिष्ठा का अधिकार

उपरोक्त अधिकारों से संबंधित राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय मानकों व विधियों का अनुपालन सुनिश्चित करना राज्य का विधि के शासन के अंतर्गत एक सामान्य दायित्व है, वनवासी व्यक्तियों के मानवाधिकारों को सुनिश्चित करना राज्य की एक सामान्य प्रक्रिया है, जिनमें वनवासी व्यक्ति भी सम्मिलित है। विकास के नाम पर वनवासियों के विस्थापन की समस्या ने इन लोगों के जीवन में एक भूचाल ला दिया है, उनके सामान्य विधिक अधिकारों का तो हनन हो ही रहा है। साथ ही संवैधानिक व अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकारों को दरकिनार किया जा रहा है। विस्थापन की समस्या का इन मानवाधिकार मानकों के संदर्भ में विश्लेषण करने पर निम्न मानकों का विशेष रूप से उल्लंघन दृष्टिगत होता है –

1. मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा, 1948
2. सिविल व राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा, 1966
3. आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की प्रसंविदा, 1966
4. देशज व्यक्तियों के अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र घोषणा, 2007
5. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन अभिसमय सं. 169

देशज व्यक्तियों को निम्र भारतीय संवैधानिक व वैधानिक प्रावधानों का उल्लंघन दृष्टिगत होता है–

1. भारतीय संविधान अनुच्छेद–46
2. भारतीय संविधान अनुच्छेद–244
3. भारतीय संविधान–अनुसूची
4. अनुसूचित जनजाति एवं परम्परागत वन भ्रमणक अधिकार अधिनियम, 2006
5. पंचायत प्रावधानों का (अनुसूचित क्षेत्रों) में विस्तार अधिनियम, 1996

समावेशी व मानवाधिकार संगत विकास की आवश्यकता

विकास का अधिकार प्रत्येक भारतीय, जिनमें कि वनवासी भी शामिल है का अधिकार है। राज्य का यह अधिकार है कि वह प्राकृतिक संसाधनों का दोहन विकास परियोजनाओं के लिए करें, लेकिन विकास समावेशी तथा मानवाधिकार संगत हो तो मानव परिवेदनाओं तथा उग्र आंदोलनों से बचा जा सकता है। अतः वनवासी लोगों के मानवाधिकारों की देश में अनदेखी एक उचित नीति नहीं हो सकती। मानवाधिकार का पूर्ण सम्मानरहित विकास, विकास नहीं कहलाएगा, क्योंकि राज्य का विकास (सकल घरेलू उत्पाद) में वृद्धि तथा मानव विकास (मानवाधिकार संरक्षण) एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों का विकास करने हेतु श्सत्त विकास परियोजना बनाने व प्रबन्धन करने की आवश्यकता है और इसके लिए वनवासियों के मानवाधिकार संरक्षण आवश्यक हो जाता है। विकास आधारित परियोजनाओं के क्रियान्वयन व प्रबंधन में परिवेश, पर्यावरण, जीविकोपार्जन, रीति रिवाज परम्परागत जानकारी, संस्कृति, सांस्कृतिक समेकता जैसे मानवाधिकार एवं मां सृदश पृथ्वी व संसाधनों से लगाव एवं जुड़ाव को दृष्टिगत रखने की आवश्यकता है। इनसे भी सर्वोपरि प्राकृतिक पारिस्थितिकी तंत्र को सुरक्षित व संरक्षित रखने में जैव विविधता बनाये रखने में वनवासी व्यक्तियों की अहम भूमिका देखते हुए उनके प्राकृतिक परिवेश को नष्ट न कर विकास परियोजनाएं क्रियान्वित करने की आवश्यकता है। आदिवासी बहुल क्षेत्रों में विकास परियोजना स्वीकृति से पूर्व उनके जनजीवन, व्यक्तिगत व सांस्कृतिक उत्तरजीवन पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभावों का अध्ययन व विश्लेषण करने की आवश्यकता है तथा जहां ये प्रभाव हो सकते हैं, उन परियोजनाओं की स्वीकृति रोकने की आवश्यकता है। इसके लिए विभिन्न क्षेत्रों सामाजिक, सांस्कृतिक, पर्यावरण, विज्ञान एवं अभियांत्रिकी, मानवाधिकार एवं विधि, के विशेषज्ञों का एक कार्य समूह बनाकर उक्त उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सकती है। वन क्षेत्रों में विकास परियोजना स्वीकृति हेतु सरकार के संबंधित मंत्रालयों में भी समन्वय की आवश्यकता है। समावेशी विकास हेतु एकाकी संस्कृति की वनवासी व्यक्तियों के विश्वास को जीतने तथा विकास का प्रतिभागी प्रारूप विकसित करने की आवश्यकता

है जिससे यह समुदाय जो कि समाज की मुख्यधारा से अभी भी दूर है, को सामाजिक समेकन से मुख्यधारा में लाने का प्रयास किया जा सके न कि उन्हे अलग–थलग करने का।

परम्परागत वन भ्रमणक अधिकार अधिनियम, 2006 एक उचित कदम

वन अधिकार अधिनियम व आदिवासी अधिकार अधिनियम एवं वनवासी भूमि अधिनियम के लोकप्रिय नामों से जाने वाली यह विधि वनवासियों के परम्परागत वनों में आवास, जीवनयापन, भूमि, परिवेश व अल्प उत्पाद दोहन के सामान्य अधिकारों को सुनिश्चित करने हेतु सरकार की उचित पहल है। यह अधिनियम वनवासियों व वन भ्रमणकों के साथ ब्रिटिश काल से चले आ रहे ऐतिहासिक अन्याय के विरूद्ध एक राहत है। अधिनियम की धारा 3(1) के अंतर्गत वनवासियों को निम्न विशिष्ट अधिकार सुनिश्चित किये गये हैं –

1. स्वामित्व स्वतत्व अधिकार सभी वनवासी व्यक्तियों को खेतिहर वनभूमि पर स्वामित्व का अधिकार सुनिश्चित किया गया है जिस पर कि वे 13 दिसंबर 2005 तक खेती कर रहे थे।
2. वन सम्पदा उपयोग करने का अधिकार इस अधिकार के अंतर्गत लघु वन उत्पाद को संग्रह करने, स्वामित्व व चरागाहों एवं उनके लिए पथ के प्रयोग करने का अधिकार सुनिश्चित किया गया है।
3. विकास एवं राहत का अधिकार बाध्य विस्थापन अथवा अवैधानिक बेदखली के मामलों में पुनर्वास, व मूलभूत आवश्यकताओं व सुविधाओं की आपूर्ति का अधिकार।
4. वन प्रबंधन का अधिकार वन्य जीव व वनों के संरक्षण हेतु यह अधिकार दिया गया है।

निष्कर्ष

वैश्वीकरण और पर्यावरण की समस्याओं के बीच उलझे वनवासी व्यक्तियों को आज राष्ट्रीय व अंतरर्राष्ट्रीय विधिक मानकों के प्रभावी क्रियान्वयन की आवश्यकता जरूरी हो गई है। विधि शासित राज्य होने के कारण केन्द्र व राज्य सरकारों का विधिक दायित्व हो जाता है कि वे वनवासी लोगों को सामाजिक न्याय दिलाने हेतु राष्ट्रीय विधि व अंतराष्ट्रीय समयकों (जिनमें वे पक्षकार हैं) का प्रभावी क्रियान्वयन उनके अधिकारों को सुनिश्चित करने हेतु करें। आज महती आवश्यकता इन लोगों के अधिकारों को क्षेत्रीय अधिकारों के संदर्भ में परिभाषित करने व विधिक स्वरूप देकर प्रभावी बनाने की है तथा इन अधिकारों को विकास परियोजनाओं के संदर्भ में विश्लेषण कर उचित निर्णय लेने की है जिससे विकास की गति भी बनी रहे तथा आदिवासियों के अधिकारों पर विपरित प्रभाव भी न पड़े। अनुसूचित जाति एवं परम्परागत वन भ्रमणक अधिकार अधिनियम के 31 दिसंबर 2007 से प्रभावी होने के बाद आदिवासियों के व्यक्तियों व समूहों को अवैध विस्थापन व विकास परियोजनाओं हेतु अनिवार्य भूमि अधिग्रहण के विरूद्ध एक वैधानिक संरक्षण प्राप्त हो गया है। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने भी वनवासी मानवाधिकार संरक्षण में विधायिका के सक्रिय होने (यानि कि वन अधिकार अधिनियम, 2006) लागू होने के बहुत पूर्व संविधान की अनुसूची की व्याख्या करते हुए वनवासी व्यक्तियों के वन अधिकारों को सुनिश्चित किया है। जुलाई 1997 को सुनाये गये अपने तीन जज की पीठ के निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने समथा बनाम आंध्रप्रदेश राज्य व अन्य के मामले में निर्धारित किया कि वनवासियों को अपनी भूमि से संबंध रखने का अधिकार है, जो कि उनकी बहुमूल्य निधि है। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि देशज व्यक्तियों के सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक अधिकारों का संरक्षण आवश्यक है तथा कोई भी औद्योगिक उपक्रम व खनन उनकी ग्राम सभा की अनुमति के बिना उनके क्षेत्रों में नहीं लगाया जा सकता। सर्वोच्च न्यायालय ने आगे कहा कि वनवासियों की भूमि उनकी अत्यंत महत्वपूर्ण, बहुमूल्य प्राकृतिक निधि है, जिससे वे सम्पन्नता, जीवन यापन, सामाजिक प्रतिष्ठा, आर्थिक–सामाजिक समानता, स्थाई आवास, कार्य व जीवन प्राप्त करते हैं, इस कारण स्वत ही उनका अपनी भूमि से अत्यधिक भावनात्मक लगाव होता है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने आदिवासी के दैनिक जीवन व मानवाधिकारों में हस्तक्षेप को गंभीरता से लेते हुए उनके संरक्षण में प्रशंसनीय योगदान दिया है और उसका प्रभाव कार्यपालिका की सक्रियता पर भी पड़ा है। वनवासियों के विकास हेतु भारत सरकार की प्रारूपिक राष्ट्रीय नीति, 2006 भारत सरकार ने वनवासी व्यक्तियों पर वैश्वीकरण व उससे जनित विकास परियोजनाओं के प्रभाव को शून्य करने हेतु एक प्रारूपिक नीति 21 जुलाई 2006 को जारी की है। जिसका मुख्य मुद्दा विकास परियोजनाओं के कारण इन समुदाय के विस्थापन की समस्या है। इस नीति के अंतर्गत राज्य सरकारों को निर्देश दिया जायेगा कि वे इस वर्ग के लोगों को उनके अधिवास से बेदखल करने वाली भूमि विधियों तथा पंजीकरण विधियों में संशोधन करें व विस्थापित लोगों के पुनर्वास व क्षतिपूर्ति का प्रावधान करें विवादों के निपटारे के लिए त्वरित न्याय न्यायालय स्थापित करें तथा आदिवासी क्षेत्रों के विकास व कल्याण हेतु योजना बनायें जिससे उनकी संस्कृति, पारंपरिक ज्ञान, हस्तकला, नृत्य, संगीत आदि को अक्षुण्ण रखा जा सके। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि वनवासी समुदाय के संरक्षण एवं उनके मानवाधिकार सुरक्षित करने हेतु फोरेस्ट राइट्स अधिनियम, 2006 हालांकि एक बड़ा कदम है, केन्द्र सरकार की वनवासियों के विकास व कल्याण के लिए प्रारूपिक नीति, 2006 भी इसमें सहयोग प्रदान करेगी, लेकिन वनवासियों को उनकी अपनी मातृतुल्य धरा से विस्थापन व वंचन रोकने हेतु 2011 से लंबित राष्ट्रीय भूमि अधिग्रहण, पुनर्वास व व्यवस्थापन बिल के प्रभावी क्रियान्वयन से भी इस दिशा में सकारात्मक प्रयास सामने आ सकते हैं जिससे कि भूमंडलीय विकास के बीच समग्र रूप से इस समुदाय को पूर्ण संरक्षण व भयविहीन प्राकृतिक परिवेश सुनिश्चित किया जा सके।

संदर्भ सूची

1. Tribal profile at a glance May 2013 tribal.nic.in/…./cms
2. राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग : पत्रिका वार्षिक अंक 11, वर्ष 2014
3. Census of india.gov.in
4. www.bbc.com/news/world-asia-india 25673187 Dt. 10th Jan 14
5. The Panchayat (Extension to the scheduled areas) Act, 1996 & Forest Rights
6. Schedule 7 entry 54, Indian constitutions
7. ILO Convention No 169 & Art. 21, U.N. Declaration on the rights of Indigenous people 2006
8. International Convenant on Civil & Political Rights & Cultural Rights
9. www.dnaindia.com, April 19, 2013
10. Times of india.com Jan22, 2013
11. The Indian express July 22, 2008